Quest Journals
Journal of Research in Humanities and Social Science
Volume 13 ~ Issue 11 (November 2025) pp: 97-100
ISSN(Online):2321-9467
www.questjournals.org

Research Paper

पर्यावरणीय संकट तथा भारतीय समाज की प्रतिक्रिया: परंपरा बनाम आधुनिकता

अमर सिंह
शोधछात्र, समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सारांश

वर्तमान वैश्विक एवं भारतीय संदर्भ में पर्यावरणीय संकट एक जटिल बहुआयामी चुनौती बनकर उभरा है। यह संकट केवल प्राकृतिक संसाधनों की कमी अथवा प्रदूषण तक सीमित नहीं रह गया है अपितुसामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संरचनाओं से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय समाज की परंपरा सदैव प्रकृति के प्रति आदर, सह-अस्तित्व, संतुलन की चेतना पर आधारित रहीजिसमें नदियों, वृक्षों, पर्वतों एवं जीव-जंतुओं को पवित्र और पूजनीय माना गया। भारतीय वैदिक, पौराणिक तथा लोक परंपराओं में पर्यावरण संरक्षण न केवल धार्मिक कर्तव्य थाबल्कि सामाजिक अनुशासन के साथ ही सामुदायिक जीवन का अभिन्न हिस्सा भी था। इस सबके विपरीतआधुनिकता एवं औद्योगीकरण ने संसाधनों के अंधाधुंध दोहन, नगरीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के माध्यम से पर्यावरणीय असंतुलन को जन्म दिया। वर्तमान भारत में बड़े बांध, खनन परियोजनाएँ और औद्योगिक विकास ने पारंपरिक पर्यावरणीय संतुलन को चुनौती दी। प्रस्तुत लेख में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह विश्लेषण किया गया है कि किस तरह परंपरा-आधुनिकता के बीच द्वंद्व ने पर्यावरणीय चेतना और प्रतिक्रिया को प्रभावित किया। चिपको तथा नर्मदा बचाओ जैसे जनआंदोलन यह दर्शाते हैं कि भारतीय समाज में परंपरागत नैतिकता और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समन्वय की संभावना मौजूद है। अंततःलेख इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सतत विकास एवं पर्यावरणीय संरक्षण तकनीकी उपायों या नीतियों मात्र से संभव नहीं अपितु परंपरा और आधुनिकता के संतुलित समन्वय, सामाजिक सहभागिता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के माध्यम से ही प्रभावी रूप से साधा जा सकता है।

*Received 02 Nov., 2025; **R**evised 09 Nov., 2025; **A**ccepted 11 Nov., 2025 © The author(s) 2025.*
P**ublished with open access at **www.questjournas.org

प्रस्तावना

वर्तमान समय में पर्यावरणीय संकट वैश्विक स्तर पर मानव अस्तित्व हेतु सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, जलस्रोतों का प्रदूषण, जैव विविधता का विनाश, मिट्टी का क्षरण तथा वायु प्रदूषण जैसी समस्याएँ न केवल प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ रही हैं अपितुलोगों के बीच सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को भी बढ़ा रही हैं। वैश्वीकृत औद्योगिकीकरण, नगरीकरण एवं उपभोक्तावाद की तीव्र गति ने प्रकृति को एक उपभोग की वस्तु के रूप में रूपांतरित कर दिया हैजिसके परिणामस्वरूप 'विकास' की अवधारणा अब 'विनाश' का प्रतीक बनती जा रही है। भारतजो प्राचीन काल से ही प्रकृति को 'माता' मानने वाली सांस्कृतिक परंपरा का धनी देश रहा है वर्तमान में उसी भूमि पर पर्यावरणीय असंतुलन की गंभीर स्थिति का सामना कर रहा है। शास्त्रीय रूप से पवित्र एवं मोक्षदायिनी मानी जाने वाली गंगा-यमुना जैसी नदियाँ प्रदूषित हो रही हैं, जंगल सिमट रहे हैं, और ग्रामीण परिवेश में पारंपरिक जीवनशैली का स्थान यांत्रिक आधुनिकता ने ले लिया है। यह विरोधाभास परंपरागत पर्यावरणीय नैतिकता तथा आधुनिक विकासवादी दृष्टिकोण के बीच भारतीय समाज हेतु आत्ममंथन का विषय है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इस द्वंद्व को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझना है कि कैसे परंपरा एवं आधुनिकता की परस्पर क्रिया ने भारतीय समाज की पर्यावरणीय चेतना को प्रभावित किया है। इस लेख का प्रयोजन यह विश्लेषण करना है कि पारंपरिक भारतीय संस्कृति में निहित प्रकृति-सम्मान एवं आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच संतुलन स्थापित कर पर्यावरण संकट का समाधान किस प्रकार खोजा जा सकता है। अध्ययन के प्रमुख प्रश्न हैं (1) पारंपरिक भारतीय समाज में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण कैसा था? (2) आधुनिकता तथा विकास की प्रक्रिया ने पर्यावरणीय चेतना को किस प्रकार परिवर्तित किया? (3) क्या परंपरा एवं आधुनिकता के समन्वय से सतत विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता है? इस शोध का दायरा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा वैचारिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करना हैजिससे यह स्पष्ट हो सके कि भारत अपनी पारंपरिक जड़ों और आधुनिक जरूरतों के बीच किस प्रकार पर्यावरणीय संतुलन स्थापित कर सकता है।

पर्यावरणीय संकट: समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

पर्यावरणीय संकट को समझने हेतु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यह संकट पारिस्थितिकीय या भौतिक मात्र नहीं अपितु गहराई से सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से भी जुड़ा हुआ है। इसी संदर्भ में पर्यावरण समाजशास्त्र (Environmental Sociology) एक विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र के रूप में उभरता हैजिसका उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि समाज तथा पर्यावरण के बीच संबंध किस प्रकार निर्मित, परिवर्तित एवं नियंत्रित होते हैं। समाजशास्त्र की यह शाखा यह समझने का प्रयत्न करती है कि सामाजिक संरचनाएँ, उत्पादन संबंध, मूल्य प्रणाली एवं तकनीकी विकास किस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और पर्यावरणीय असंतुलन को प्रभावित करते हैं। परंपरागत भारतीय समाज में प्रकृति को जीवन का अभिन्न अंग माना गया था, यहाँ पर्यावरण केवल भौतिक संसाधन नहीं बल्कि 'जीवंत सत्ता' के रूप में प्रतिष्ठित था। यहाँ समाज और प्रकृति का संबंध सहजीविता (Symbiotic) पर आधारित थाजिसमें मनुष्य स्वयं को प्रकृति का संरक्षक मानता था, स्वामी नहीं। वहींआधुनिक औद्योगिक समाज में यह संबंध शोषण एवं वर्चस्व पर आधारित हो गया। आधुनिकता के आगमन के साथ वैज्ञानिक तकनीक, औद्योगीकरण तथा पूंजीवाद ने मनुष्य को 'प्रकृति पर अधिकार' स्थापित करने की मानसिकता दीजिसके परिणामस्वरूप प्रकृति-मनुष्य संबंध का सामंजस्य टूट गया। इस परिप्रेक्ष्य में 'आधुनिकता बनाम परंपरा' का द्वंद्व स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है जहाँ परंपरा प्रकृति के प्रति नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है, वहीं आधुनिकता तर्क, उपयोगिता एवं लाभ की अवधारणाओं के आधार पर पर्यावरण का मूल्यांकन करती है। इस विरोधाभास ने पर्यावरणीय असंतुलन को और गहरा किया है। जर्मन समाजशास्त्री उलरिख बेक (Ulrich Beck) ने अपनी प्रसिद्ध कृति*Risk Society* (1992) में कहा कि आधुनिक समाज 'जोखिम समाज' में परिवर्तित हो चुका हैजहाँ वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति स्वयं नए प्रकार के पर्यावरणीय और सामाजिक जोखिम उत्पन्न करती है यथा जलवायु परिवर्तन, परमाणु प्रदूषण, औद्योगिक आपदाएँ आदि । इसी तरह एंथनी गिडेंस (Anthony Giddens) की*Reflexive Modernity*की अवधारणा यह दर्शाती है कि आधुनिक समाज अपनी ही उत्पादित समस्याओं पर आत्मचिंतन करने की स्थिति में पहुँच गया है। इस 'प्रतिबिंबित आधुनिकता' में मनुष्य को यह स्वीकार करना पड़ता है कि विकास की अंधी दौड़ स्वयं उसके अस्तित्व के लिए ही खतरा बन रही है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से पर्यावरणीय संकट केवल संसाधनों की कमी नहीं अपितु सामाजिक संरचनाओं, मूल्य परिवर्तनों एवं विकास मॉडल की असफलता का द्योतक है। अतः इसकी जड़ें आधुनिकता की उस सोच में हैं जिसने मनुष्य को प्रकृति से अलग कर दिया और उसे उसका उपभोक्ता बना दियान कि सहभागी।

पारंपरिक भारतीय समाज तथा पर्यावरणीय चेतना

पारंपरिक भारतीय समाज में पर्यावरणीय चेतना केवल व्यवहारिक स्तर पर ही नहींबल्कि आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन के केंद्र में विद्यमान रही है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति को सदा से ही पवित्र, चेतन, पूजनीय माना गया है। वैदिक साहित्य में पृथ्वी को 'माता' तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी को पंचमहाभूतों के रूप में प्रतिष्ठित किया गयाजिनसे संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति तथा संचालन माना गया।*अथर्ववेद*में पृथ्वी सूक्त के माध्यम से प्रकृति के प्रति कृतज्ञता के साथ ही संरक्षण की भावना प्रकट होती है यथा "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" अर्थात् पृथ्वी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। यह वैदिक दृष्टि इस तथ्य को उजागर करती है कि मनुष्य का अस्तित्व प्रकृति से अविभाज्य है। यहाँ के पुराणों और उपनिषदों में भी वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, पशु-पक्षियों आदि को देवतुल्य स्थान दिया गया है।*भागवत पुराण*तथा*गरुड़ पुराण*में वृक्षों को रोपने, नदियों को स्वच्छ रखने और पशु हिंसा से बचने को धार्मिक कर्तव्य माना गया है। इस तरह प्राचीन काल में धर्म और पर्यावरण के बीच गहरा नैतिक बंधन थाजिसने संरक्षण की सामाजिक व्यवस्था को मजबूती प्रदान की।भारतीय ग्राम्य जीवन में प्रकृति-मनुष्य के संबंध अत्यंत सामंजस्यपूर्ण थे। ग्राम जीवन कृषि-आधारित थाजो ऋतु-चक्र, जल, भूमि और पशुओं पर निर्भर था। इस कारण ग्रामीण समाज में संसाधनों के उपयोग पर स्वाभाविक अनुशासन था। गांधीजी का 'ग्राम स्वराज' इसी परंपरा की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रतीक था। उनका मानना था कि स्वावलंबी ग्राम जीवन ही प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर चल सकता हैक्योंकि वहाँ उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार होता हैन कि बाजार की मांग पर। गांधी का 'सर्वोदय' दर्शन पर्यावरणीय न्याय की अवधारणा से जुड़ा हुआ थाजिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रकृति के प्रत्येक तत्व के कल्याण की बात कही गई है।यहाँ धर्म, आस्था, सामाजिक अनुशासन आदि के माध्यम से संरक्षण की प्रवृत्ति विकसित की गई। पेड़ काटने, जल स्रोत को दूषित करने या पशुओं को हानि पहुँचाने को पाप माना गया। धार्मिक आस्थाओं ने लोगों के व्यवहार को नियंत्रित कर पर्यावरण के प्रति दायित्वबोध पैदा किया। उदाहरण के तौर परतुलसी, पीपल, बरगद और नीम जैसे वृक्षों की पूजा इसीलिए की जाती थी कि लोग उन्हें नष्ट न करें। इसी तरह नदियों को देवी मानकर उनकी स्वच्छता-पवित्रता बनाए रखना सामाजिक उत्तरदायित्व का हिस्सा बन गया। यहाँ यथावसर मनाए जाने वालेत्योहारों, पूजाओं और लोकसंस्कृति में भी पर्यावरण संरक्षण की गहरी प्रतीकात्मकता निहित थी। वट सावित्री, हरियाली तीज, मकर संक्रांति, छठ पूजा और गोवर्धन पूजा जैसे पर्व प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति श्रद्धा और सम्मान के अवसर थे। इसी तरह लोकगीतों और लोककथाओं में वर्षा, नदियों और हरियाली के लिए प्रार्थना की जाती थी। ये सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ न केवल धार्मिक अनुष्ठान थीं अपितु सामूहिक पर्यावरणीय चेतना के माध्यम भी थीं। इस प्रकार पारंपरिक भारतीय समाज में पर्यावरणीय नैतिकता जीवन के

प्रत्येक क्षेत्र में अंतर्निहित थी। वह न तो किसी वैज्ञानिक आंदोलन का परिणाम थी और न किसी विधिक प्रावधान काबल्कि सांस्कृतिक अनुभवों और धार्मिक संवेदनाओं से उत्पन्न एक स्वाभाविक जीवन-मूल्य थीजिसने समाज को प्रकृति के साथ सहजीवी संबंध में बाँध रखा था।

आधुनिकता एवं पर्यावरणीय संकट

आधुनिकता के आगमन के साथ मानव सभ्यता ने तकनीकी प्रगति, औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण के माध्यम से अभूतपूर्व विकास कियाकिंतु इसी प्रक्रिया ने पर्यावरणीय संकट की जड़ें भी गहरी कीं। औद्योगीकरण ने उत्पादन की गति को तेज किया लेकिन प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन तथा प्रदूषण की समस्या को भी जन्म दिया। नगरीकरण की प्रक्रिया ने भूमि उपयोग के स्वरूप को बदल दिया परिणामतः कृषि भूमि घटती गई, जल स्रोत सिकुड़ते गए और जनसंख्या का असंतुलित घनत्व शहरों में बढ़ता गया। पूंजीवादी विकास की नीतियों ने 'लाभ अधिकतमकरण' को विकास का मापदंड बना दियाजिससे प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता समाप्त होती चली गई। विकास की यह प्रक्रिया समाज में असमानताओं को और बढ़ाती गई जिस कारण एक तरफ समृद्ध वर्ग उपभोग के विलास में लिप्त हुआ तो वहीं दूसरी तरफ गरीब वर्ग पर्यावरणीय क्षरण और विस्थापन का शिकार बना।उपभोक्तावादी संस्कृति ने इस संकट को और गंभीर बनाया। आधुनिक समाज में वस्तुओं का उपभोग सामाजिक प्रतिष्ठा एवं पहचान का प्रतीक बन गया है। मीडिया और बाजार ने उपभोग को 'सफलता' का मानक बना दियाजिसके परिणामस्वरूप संसाधनों का अनियंत्रित दोहन हुआ। यह प्रवृत्ति न केवल पर्यावरण को नष्ट कर रही है अपितु मानव की आवश्यकताओं-इच्छाओं के बीच की सीमाओं को भी मिटा रही है। एक समय जो समाज कम में संतोष के सिद्धांत पर चलता थावही आज अधिक से अधिक पाने की मानसिकता में फँस गया है। इस दृष्टि से आधुनिकता की परियोजना आत्म-विनाश की ओर अग्रसर दिखाई देती है।भारतीय संदर्भ में भी यह विरोधाभास स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात विकास को राष्ट्रीय प्रगति का पर्याय मान लिया गया तथा विशाल बाँधों, खनन परियोजनाओं, औद्योगिक नगरों एवं सड़कों के निर्माण को विकास की प्रतीकात्मक उपलब्धियाँ माना गया परंतु इन परियोजनाओं ने पर्यावरण को गहरा नुकसान पहुँचाया यथा नदियों का प्रवाह अवरुद्ध हुआ, लाखों लोग विस्थापित हुए साथ ही जैव विविधता भी नष्ट हुई। नर्मदा घाटी, कोयल-कारो, तेजस और सिलचर जैसी परियोजनाएँ इस विडंबना की जीवंत मिसाल हैं जहाँ 'विकास' की कीमत समाज और प्रकृति दोनों ने चुकाई।समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस स्थिति का विश्लेषण कार्ल मार्क्स एवं मैक्स वेबर के सिद्धांतों के माध्यम से किया जा सकता है। मार्क्स की 'Metabolic Rift' (जैविक विच्छेद) की अवधारणा यह बताती है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने मनुष्य तथा प्रकृति के बीच उस जैविक संबंध को तोड़ दिया है जो जीवन की निरंतरता हेतु आवश्यक था। पूंजीवादी व्यवस्था ने भूमि और श्रम दोनों को वस्तु बना दियाजिससे पारिस्थितिक संतुलन भंग हुआ और उत्पादन-उपभोग का चक्र असंतुलित हो गया। दूसरी तरफ वेबर की 'Rationalization'की अवधारणा यह दिखाती है कि आधुनिकता ने मनुष्य को तर्क, गणना, दक्षता की जकड़ में बाँध दिया हैजहाँ प्रकृति का मूल्य केवल उपयोगिता के आधार पर आँका जाता है। यह 'लोहे का पिंजरा' (Iron Cage) आधुनिक समाज को उस बिंदु पर पहुँचा देता है जहाँ मानवीय संवेदना एवं नैतिकता का स्थान तकनीकी और आर्थिक तर्क ले लेते हैं। परिणामतःपर्यावरणीय संकट केवल पारिस्थितिक समस्या नहीं रह जाता अपितु आधुनिकता की उस सोच का प्रतीक बन जाता है जिसने मनुष्य को प्रकृति का स्वामी मान लिया, उसका अंग नहीं। इस प्रकार आधुनिकता की यह विकासयात्रा समाजशास्त्रीय दृष्टि से आत्मविरोधी प्रतीत होती हैजहाँ प्रगति के नाम पर विनाश का बीज छिपा है।

भारतीय समाज की प्रतिक्रिया: परंपरा बनाम आधुनिकता

पर्यावरणीय संकट के प्रति भारतीय समाज की प्रतिक्रिया को समझने हेतु परंपरा तथा आधुनिकता दोनों दृष्टिकोणों को एक साथ देखना आवश्यक है। भारत की सांस्कृतिक परंपरा में प्रकृति को केवल उपयोग की वस्तु नहींबल्कि 'मातृशक्ति' के रूप में पूज्य माना गया है। यहाँ वेदों, उपनिषदोंऔर स्मृतियों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश को पंचमहाभूत के रूप में सम्मानित किया गया है। इसी दृष्टि ने भारतीय समाज में प्रकृति के साथ सामंजस्य का भाव स्थापित किया। उदाहरण के तौर परवृक्षों, नदियों, पर्वतों, पशु-पक्षियों आदि की पूजा न केवल धार्मिक कर्मकांड थी अपितु पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने का सांस्कृतिक उपक्रम भी थीकिन्तु आधुनिकता के आगमन के साथ औद्योगीकरण, शहरीकरण, और उपभोक्तावाद की प्रवृत्तियों ने इस सामंजस्य को भंग किया। आर्थिक विकास तथा तकनीकी प्रगति के नाम पर पर्यावरण के शोषण को वैधता मिलने लगी। इसके परिणामस्वरूप वनों की कटाई, प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन आदि ने जीवन के सभी स्तरों पर संकट उत्पन्न किया। इस संदर्भ में भारतीय समाज ने विभिन्न रूपों में प्रतिरोध-पुनर्विचार की प्रक्रिया शुरू की।चिपको आंदोलन (1973) इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैजहाँ उत्तराखंड के ग्रामीणों ख़ासकर महिलाओं ने पेड़ों को बचाने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध किया। इसी तरहनर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक) ने बड़े बांधों के दुष्प्रभावों पर प्रश्न उठाया और पर्यावरण न्याय की मांग की। इन आंदोलनों ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज के भीतर परंपरागत नैतिकता और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के बीच संतुलन की आवश्यकता है।स्वतंत्र भारत में पर्यावरणीय शिक्षा, कानून, और नीतियाँ इसी दिशा में विकसित हुईं। स्वच्छ भारत अभियान, नमामि गंगे, जल जीवन मिशन जैसी योजनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि आधुनिक तकनीक तथा प्रशासनिक प्रयासों को भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ जोड़ा जा सकता है।साथ हीयोग, अहिंसा, लोकधर्म आदि लघु एवं वृहद परम्परा पर आधारित जीवनदर्शन आज भी पर्यावरणीय संकट से निपटने में प्रासंगिक हैं। ये दृष्टिकोण मनुष्य को उपभोगकर्ता नहीं, बल्कि रक्षक की भूमिका निभाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस

प्रकारभारतीय समाज की प्रतिक्रिया किसी एक ध्रुव पर नहीं टिकतीयह परंपरा और आधुनिकता दोनों का समन्वय करती हैजहाँ सांस्कृतिक संवेदना और वैज्ञानिक चेतना मिलकर पर्यावरणीय स्थिरता की ओर अग्रसर होती हैं।

निष्कर्ष

पर्यावरणीय संकट तथा भारतीय समाज की प्रतिक्रिया का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारत की सांस्कृतिक परंपरा में प्रकृति के प्रति आदर, संतुलन एवं सह-अस्तित्व का भाव गहराई से निहित रहा है। आधुनिक युग मेंजहाँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने अभूतपूर्व प्रगति की है तोवहीं इसने पर्यावरणीय असंतुलन को भी जन्म दिया है। इन दोनों प्रवृत्तियोंपरंपरा और आधुनिकताके बीच सामंजस्य स्थापित करना ही आज की सबसे बड़ी चुनौती एवं आवश्यकता है।मुख्य निष्कर्ष यह है कि भारतीय समाज ने पर्यावरणीय संकट को केवल भौतिक समस्या के रूप में नहीं अपितु नैतिक-सांस्कृतिक संकट के रूप में भी देखा है। चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलनऔर पर्यावरणीय जनजागरण के अन्य प्रयास यह प्रमाणित करते हैं कि समाज की पारंपरिक चेतना आज भी सक्रिय है। इसी चेतना ने लोगों को यह सिखाया कि प्रकृति का संरक्षण केवल सरकार अथवा वैज्ञानिक संस्थानों की जिम्मेदारी नहींबल्कि सामाजिक सहभागिता का विषय है।परंपरा औरआधुनिकता के समन्वय से ही एक स्थायी समाधान संभव है। भारतीय दर्शन में निहित 'अहिंसा', 'अपरिग्रह' एवं 'संतुलन' जैसे मूल्य यदि आधुनिक विज्ञान की तार्किकता और तकनीकी दक्षता के साथ जोड़े जाएँतो एक समावेशी पर्यावरणीय नीति विकसित की जा सकती है। उदाहरणतःस्वच्छ भारत अभियान या नमामि गंगे जैसी योजनाओं में स्थानीय धार्मिक विश्वासों और आधुनिक तकनीकों दोनों का समन्वय देखने को मिलता है।भविष्य की दिशा समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह संकेत देती है कि पर्यावरण संरक्षण केवल संरचनात्मक नीति का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भी विषय है। नीति-निर्माताओं को चाहिए कि वे विकास योजनाओं में स्थानीय ज्ञान, लोकपरंपराओं और समुदायों की भागीदारी को प्राथमिकता दें साथ हीशिक्षा प्रणाली में पर्यावरणीय नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व के मूल्य को शामिल करना आवश्यक है।अंततः, भारतीय समाज की पर्यावरणीय प्रतिक्रिया इस तथ्य को रेखांकित करती है कि परंपरा और आधुनिकता में विरोध नहीं अपितु परस्पर पूरकता है। यदि यह संतुलन सही ढंग से साधा जाएतो न केवल पर्यावरणीय संकटों से मुक्ति संभव हैबल्कि मानव तथा प्रकृति के बीच पुनः सामंजस्यपूर्ण संबंध भी स्थापित हो सकते हैं।

संदर्भ सूची

[1]. Beck, U. (1992). *Risk Society: Towards a New Modernity*. Sage Publications.
[2]. Giddens, A. (1991). *Modernity and Self-Identity: Self and Society in the Late Modern Age*. Stanford University Press.
[3]. Mitra, Dheeraj. (2025). Religious Tourism and Ascetic Integrity: A Sociological Study of Economic Dependency and Sacred Authenticity in Varanasi. Journal of Research in Humanities and Social Science. 13. 72-80. 10.35629/9467-13077280.
[4]. Gandhi, M. K. (1909). *Hind Swaraj*. Navajivan Publishing House.
[5]. Gadgil, M., & Guha, R. (1995). *This Fissured Land: An Ecological History of India*. University of California Press.
[6]. Mitra, Dheeraj & Lahari, Vimal. (2025). Sectarian Identity, Sacred Authority and Theological Pluralism: A Sociological Inquiry into Ramanandi Vaishnav Sadhus of Kashi. Journal of Research in Humanities and Social Science. 13. 86-95. 10.35629/9467-13108695.
[7]. Shiva, V. (1989). *Staying Alive: Women, Ecology, and Development*. Zed Books.
[8]. Mitra, D. P. (2025). Louis Dumont's Sacred-Profane and Indian Beliefs on Auspicious-Inauspicious: A Comparative Sociological Analysis. Quest Journals Journal of Research in Humanities and Social Science. https://doi.org/10.35629/9467-13058490
[9]. Singh, Y. (1986). *Modernization of Indian Tradition*. Rawat Publications.
[10]. Government of India, Ministry of Environment, Forest and Climate Change. (2020). *Annual Report 2019–20*. New Delhi: MoEFCC.
[11]. Mitra, D. P. (2024). The Impact of Religious Revivalism on Contemporary Social Movements: A Sociological Analysis. South India Journal of Social Sciences.